

बुन्देलखंड के जैन तीर्थ :

जिनमूर्ति-लेख-विश्लेषण : तीर्थकर मान्यता एवं भट्टारक परम्परा

डॉ० एन० एल० जैन,
जैन केन्द्र, रीवाँ

विश्व के इतिहास में सदैव ही विभिन्न क्षेत्रों में ऐसे महापुरुषों का जन्म होता रहा है जिन्होंने दुखी मानव को सांसारिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से सुख और शान्ति की प्राप्ति के लिये मार्गदर्शो एवं प्रेरक उपदेश दिये। संसार को समुद्र की उपमा देकर उसकी अथाह एव भयंकर गहराई को पार करने में इन उपदेशों ने मानव की महान् सेवा की है। ऐसे व्यक्तियों द्वारा उपदिष्ट मार्ग धर्मतीर्थ कहलाया। ये महापुरुष जगम तीर्थ कहलाते हैं। इसके क्रिया-कलापों से, पञ्चकल्याणकों से सम्बन्धित विशिष्ट स्थान, क्षेत्र व भूमियाँ स्थावर तीर्थ कहलाते हैं। ये स्थावर तीर्थ अनेक प्रकार के होते हैं और उन्हें मंगलमय माना जाता है। उनकी यात्रा को पुण्यमय एवं ध्यानसाधक कहा जाता है। इनकी यात्रा के समय महापुरुषों के पुण्य कार्यों का स्मरण और तदनुरूप आचरण की शुभ प्रेरणा प्राप्त होती है, अन्तरंग उदार होता है, भावनायें निमल होती हैं। भावशुद्धि के प्रेरक ये तीर्थस्थान जैन संस्कृति के प्रतीक के रूप में सदा-से ही माने जाते रहे हैं। यही कारण है कि भारत में सर्वत्र इनका सद्भाव पाया जाता है। इनके अस्तित्व से यह भी अनुमान लगता है कि जैन धर्म एवं संस्कृति समग्र भारत में व्यापक रूप से प्रतिष्ठित रही है। वर्तमान में तो इसका महत्व और विस्तार और भी व्यापक होता जा रहा है।

प्रारम्भ में तीर्थ स्थान शब्द धार्मिक दृष्टि से प्रेरक स्थानों को निरूपित करता रहा है। सामान्यतः दो प्रकार के तीर्थस्थानों का इस दृष्टि से महत्व प्राप्त है : सिद्ध तीर्थ और अतिशय तीर्थ। आजकल 'तीर्थ' शब्द के स्थान पर 'क्षेत्र' शब्द अधिक प्रयुक्त होता है। सिद्ध क्षेत्र ऐसे स्थान हैं जहाँ से व्यक्तियों एवं महामानवों ने अपना चरम आध्यात्मिक विकास कर परम पद पाया हो। ऐसे क्षेत्रों में पारसनाथ, चम्पापुर पावापुर (बिहार), गिरिनार, तथा कैलाश (गुजरात) प्राचीनता की दृष्टि से प्रसिद्ध हैं। बुन्देलखण्ड के कुंडलगिरि, द्रोणगिरि, नयनगिरि तथा श्रमणगिरि के नाम सिद्ध क्षेत्रों में गिने जाते हैं। यह सिद्धक्षेत्रों की कोटि का उत्तरवर्ती विकास है। इनके विपर्यास में, अतिशय क्षेत्र ऐसे स्थान हैं जहाँ भक्तों, श्रद्धालुओं या देवी कारणों से धर्म की प्रतिष्ठा को बढ़ाने वाली कुछ प्रभावक घटनाएँ हुई हों, होती हों, या हो रही हों। इन क्षेत्रों की संख्या सिद्ध क्षेत्रों की तुलना में अधिक है। श्री महावीर जी, पपौरा, अहार, खजुराहो आदि के नाम इस कोटि के क्षेत्रों में लिये जा सकते हैं। इन अतिशय क्षेत्रों की यात्रा भी शास्त्रों में पुण्यकारी मानी गई है। वादोम सिंह, शुभचन्द्र एवं वसुनन्दि ने इनका महत्व बताया है।

भारत का अतीत धर्मप्रधान एवं आध्यात्मिक गरिमा का संवर्धक रहा है। लेकिन इसका वर्तमान कुछ परिवर्धित प्रताप होता है। आज धर्मक्षेत्रों के साथ कुछ अन्य प्रकार के क्षेत्रों का भी ज्ञान एवं उद्भावन हुआ है। इनमें ऐतिहासिक, पुरातात्विक (देवगढ़), एवं कलाक्षेत्र तो आते ही हैं, अब इनमें शिमला, कश्मीर आदि के समान प्राकृतिक सुषमामय पर्यटन क्षेत्र एवं भिलाई, टाटानगर, विशाखापटनम्, रूरकेला के समान औद्योगिक क्षेत्र भी समाहित होते लगे हैं। इनकी यात्रा हमारे वर्तमान की प्रगति एवं मनोरमता का अनुभव कराती है और भविष्य को और भी सुन्दर बनाने के लिये प्रेरित करती है। सम्भवतः यही प्रेरणा हमारी आध्यात्मिक प्रगति को उत्प्रेरित करती है। प्रस्तुत लेखन केवल धर्मप्रधान क्षेत्रों तक सीमित है और उसका भौगोलिक सीमांकन भी बुन्देलखण्ड तक रखा गया है।

बुन्देलखण्ड क्षेत्र

इस क्षेत्र के भू-भाग का प्राचीन नाम चेदि देश था। इसके पड़ोस में वत्स जनपद था। राजा वसु और महाराजा शिशुगाल चेदि वंश के हो राजा थे। ईसापूर्व पहली-दूसरी सदी के कलिंग नरेश खारवेल के पूर्वज भी चेदिवंशी थे। उत्तरवर्ती काल में यहाँ कलचुरि चन्देल एवं बुन्देल राजाओं का शासन रहा। इस क्षेत्र का नाम भी डाहल (त्रिपुरी), जैजाक भुक्ति और बुन्देलखण्ड के रूप में परिवर्तित होता रहा। वर्तमान में यह क्षेत्र बुन्देलखण्ड कहा जाता है। इसकी सीमायें सामान्य और बृहत्तर बुन्देलखण्ड के आधार पर परिभाषित की जाती हैं। यह क्षेत्र चम्बल (ग्वालियर) और नर्मदा (हुशंगाबाद), वेतवती (देवगढ़) तमस और सोन (अमरकंटक) नदियों का मध्यवर्ती क्षेत्र है। इसके अन्तर्गत वर्तमान मध्यप्रदेश के ग्वालियर, हुशंगाबाद, सागर, जबलपुर तथा रोवा कमिशनरी क्षेत्र एवं उत्तरप्रदेश के झाँसी कमिशनरी के क्षेत्र समाहित होते हैं। इसके अन्तर्गत लगभग १५-१८ जिले आते हैं। यह क्षेत्र अपनी वीरता, धर्मप्रियता, धार्मिक सहिष्णुता, स्थापत्यकला एवं मूर्तिकला के लिये पिछले एक हजार वर्ष से विख्यात है।

इस क्षेत्र के सांस्कृतिक विहंगावलोकन से ज्ञात होता है कि यहाँ जैन धर्म सदा से महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली रहा है। यही कारण है कि इस क्षेत्र में जैन धर्म से सम्बन्धित अनेक धर्मतीर्थ एवं कलातीर्थ पाये जाते हैं। नित नये उत्खननों से इस क्षेत्र में जैन संस्कृति के व्यापक प्रभाव का अनुमान लगाया जा सकता है। तीर्थ किसी भी कोटि का क्यों न हो, वहाँ मंदिर और मूर्तियाँ अवश्य पाये जाते हैं। जहाँ प्राचीन मन्दिर स्थापत्यकला के वैभव को निरूपित करते हैं, वहीं मन्दिरों में प्रतिष्ठित जिन मूर्तियाँ और उनपर उत्कीर्ण लेख मूर्तिकला के विकास एवं तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक इतिहास पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं। इस क्षेत्र की जैन स्थापत्यकला पर अनेक शोधकों ने महत्वपूर्ण विवरण दिये हैं, पर जिन मूर्तिलेखों के विवरणों का समीक्षापूर्ण अध्ययन कम ही हुआ है। अभी जैन^३ और सिद्धान्तशास्त्री^४ के कुछ निरीक्षण-समीक्षण प्रकाशित हुए हैं। इस कार्य को और भी आगे बढ़ाने की आवश्यकता है। प्रस्तुत विश्लेषण इसी क्रम में एक और प्रयत्न है।

जिनमूर्ति-लेखों का रूप और उसके फलितार्थ

विभिन्न क्षेत्रों एवं ग्राम-नगरों में स्थित जैन मूर्तियों पर जो लेख पाये जाते हैं, उनमें निम्न सूचनाओं में से कुछ या पूरी सूचनायें रहती हैं :

- (१) प्रतिष्ठा का संवत् एवं तिथि—(संवत् मुख्यतः विक्रमी होता है जो ईस्वी सन् से ५७ वर्ष अधिक होता है।)
- (२) जैन-संघ एवं अन्वय परम्परा का नाम—इनमें मूलसंघ एवं कुंदकुन्दान्वय प्रमुख पाया गया है। अनेक लेखों में काष्ठासंघ का भी नाम पाया जाता है। इसके अवान्तर गण और गच्छों की भी सूचना रहती है।
- (३) प्रतिष्ठाकारक भट्टारक और उनकी गुरु परंपरा का विवरण—यह परंपरा अतिप्राचीन लेखों में (जब इस परंपरा का प्रारंभ ही नहीं हुआ था अथवा यह प्रारंभ ही हुई होगी) एवं उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशकों में प्रतिष्ठित मूर्तियों पर प्रायः नहीं पाई जाती (जब यह परंपरा ह्रासमान होने लगी है)।
- (४) प्रतिष्ठापक श्रेष्ठियों, गुरुओं एवं उनके कुटुम्ब का विवरण—इस विवरण में कुटुम्ब के मुख्य व्यक्ति का नाम, उसकी पत्नी एवं पुत्रों आदि का विवरण रहता है। साथ ही, उनकी जैन जाति-उपजातियों का नाम व विवरण भी पाया जाता है। बुन्देलखंड क्षेत्र की जैनमूर्तियों में प्रायः गोलापूर्व, पौरपट्ट या परवार, अग्रोतक या अग्रवाल एवं गोलाराड् या गोलालारे जातियों के नाम पाये जाते हैं। इन्हें 'अन्वय' कहा गया है।

(५) तत्कालीन राजाओं और उनके वंशों का उल्लेख—ये उल्लेख उपरोक्त चार की तुलना में पर्याप्त उत्तरवर्ती प्रतीत होते हैं। फिर भी, इनसे क्षेत्र-विशेष के राजनीतिक इतिहास के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। यह भी ज्ञात होता है कि प्रतिष्ठाकालीन राजा उदारवृत्ति के थे और सभी धर्मों का आदर करते थे।

(६) मूर्तिकार का नाम एवं विवरण एवं प्रतिष्ठा का स्थान विशेष

यह पाया गया है कि प्रायः मूर्तिलेखों में उपरोक्त छहों कोटि की सूचनायें एवसाथ विरले ही पाई जाती हैं। छतरपुर के दि० जैन बड़े मंदिर जी में भ० पार्श्वनाथ की प्रतिमा पर उत्तीर्ण एक ऐसा ही विरल लेख निम्न है^३ :

(अ) तिथि व सम्बत् : सम्बत् १५४२ वर्षे फागुन सुदी ५ गुरी ।

(ब) स्थान : श्री गोपाचल दुर्गे ।

(स) राजन्य नाम : महाराजाधिराज श्री मांड्यसिंह राजा ।

(द) जैन संघ नाम : श्री काष्ठासंघे ।

(य) भट्टारक नाम : भट्टारक श्री गुणनदेवः ।

(र) प्रतिष्ठापक विवरण : तदाम्नाये अप्रोतकान्वये गर्गगोत्रे सामहराजा तत्भार्या कोल्ही, पुत्र ४ साहणि । इसमें शिल्पकार के नाम को छोड़कर अन्य सभी सूचनायें पाई जाती हैं। अन्य मूर्तियों पर उपरोक्त में तीन-चार प्रकार की ही सूचनायें मिलती हैं। सम्बत् १५४८ में मुंडासा (राजस्थान) निवासी जीवराज पापडीवाल द्वारा प्रतिष्ठापित मूर्तियों के लेख इसी श्रेणी के हैं। इनमें राजाओं एवं शिल्पकार के नाम नहीं हैं। एक लेख देखिये^४ :

(अ) तिथि व संवत् : संवत् १५४३ वैशाख सुदी ३ (वार नहीं है) ।

(ब) स्थान : सह सु (मु) रासा श्री (मुंडासा राजस्थान में है)

(स) जैन संघ नाम : श्री मूलसंघे

(द) भट्टारक नाम : श्री जिनचंद्रदेव शाह

(य) प्रतिष्ठापक नाम : जीवराज पापडीवाल नित्यं प्रणमते

इन लेखों के सामान्य एवं तुलनात्मक अध्ययन से हमें जो जानकारी मिलती है, वह हमारे सामाजिक, धार्मिक एवं ऐतिहासिक महत्व का सम्बर्धन करती है। इन लेखों की उपयोगिता वर्तमान में अनेक प्रकार से सिद्ध हो रही है। उदाहरणार्थ, शास्त्री^५ ने केसरिया-ऋषभदेव एवं कुंभोज-बाहुबली क्षेत्रों के दिगम्बर होने की पुष्टि इन्हीं लेखों के आधार से की है। अनेक विवादों के समय ऐसे लेख काम आते हैं। इसीलिये उन्होंने सुझाया है कि भारत के सभी स्थानों पर विद्यमान जैन-मूर्तियों के लेखों को मुद्रित कराया जावे।

बुन्देलखण्ड के जैनतीर्थों तथा अन्य स्थानों पर स्थित मन्दिरों की जिनमूर्तियों के लेखों के आधार पर शास्त्री ने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रारम्भ में बारहवीं सदी तक इस क्षेत्र में गोलापूर्व जाति का महत्त्व रहा है क्योंकि इस अन्वय के श्रेष्ठियों द्वारा प्रतिष्ठापित प्रतिमायें ही यहाँ अधिकांश में उपलब्ध होती हैं। नैनागिर (११०९), बहोरीबन्व (११८७), पपौरा (१२०२) एवं अहार (१२३७) के लेखों से यह तथ्य पुष्ट होता है। बाद में इस भूभाग में परवार आदि अन्य जातियों के द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमायें मिलने लगती हैं। इससे यह अनुमान सहज लगता है कि इस क्षेत्र में परवार जाति के लोग सम्भवतः गुजरात से बाद में आए। इसी प्रकार इन लेखों के सूक्ष्म या गहन अध्ययन से अन्य निष्कर्ष भी प्राप्त किये जा सकते हैं। हम यहाँ तीर्थंकर-मान्यता और भट्टारक-परम्परा पर, इन लेखों से आधार से, कुछ चर्चा करेंगे।

बहुमान्य तीर्थंकर

जैन धर्म वर्तमान युग में चौबीस तीर्थंकरों की परम्परा को स्वीकर करता है। इनकी मूर्तियाँ ईसा-पूर्व सदियों में बनना प्रारम्भ हुई। विद्वानों की यह मान्यता है कि मूर्तियों पर तीर्थंकर-पहिचान-परक लांछनों की परम्परा पर्याप्त उत्तरवर्ती है। इसीलिये अनेक प्राचीन प्रतिमाओं में लांछन (चिह्न) नहीं पाये जाते। कुछ लोगों का ऐसा भी कथन है कि अन्य धर्मों (हिन्दू, बुद्ध, पारसी एवं ईसाई) के समान जैनों में भी चौबीसी की परम्परा उत्तरकाल में विकसित हुई है। इसके विकास के उपरान्त ही लांछनों की प्रक्रिया चली होगी। सारणी १ से प्रकट होता है कि इस बुन्देलखण्ड क्षेत्र में

जिन मूर्तियों पर उत्कीर्ण लेख विक्रमी ९१९ (देवगढ़, ८६२ ई०) से प्राप्त होने लगते हैं। यह देखा गया है कि देवगढ़, बानपुर^४, मदनपुर, बजरंग गढ़, बहोरीबन्द^५, अहार, खजुराहो आदि स्थानों पर ९१९-१२३७ वि० (८६२-११८० ई०) के बीच भ० शान्तिनाथ और शान्ति-कुन्थु अरहनाथ की ही मुख्य प्रतिमाएँ पाई जाती हैं, पपौरा एवं नैनागिर (आदिनाथ, पार्श्वनाथ) इसके अपवाद हैं। पपौरा के पड़ोसी क्षेत्र जब भ० शान्तिनाथ के पूजक हों, तब पपौरा में आदिनाथ की मूल प्रतिमा स्थापित हो, यह तथ्य ऐतिहासिक और अन्य कारणों से शोध का विषय है। डा० ज्योतिप्रसाद जी^१ ने इस क्षेत्र में भ० शान्तिनाथ की प्रतिमाओं की बहुलता का कारण तत्कालीन युद्ध एवं अशान्तिबहुल युग में शान्तिप्रदाता की

**सारणी १ : बुन्देलखंड के कतिपय क्षेत्रों एवं नगरों के जिनमन्दिरों की
प्रमुख प्रतिमाओं का प्रशस्ति विवरण**

क्रमांक क्षेत्र/नगर	प्रतिष्ठा वि० ई०	तीर्थंकर	संघ	भट्टारक	प्रतिष्ठापक	राज्य	शिल्पकार
१. देवगढ़	९१९ ८६२	शान्तिनाथ	—	कमलदेव शिष्य श्रीदेव	—	—	—
२. बानपुर	१००१ ९४४	शान्तिनाथ	—	—	—	—	—
३. खजुराहो	१०११ ९५४	पार्श्वनाथ	—	—	पाहिलश्रेष्ठो	धंगराज	—
४. खजुराहो	१०८५ १०२४	शान्तिनाथ	—	—	—	—	—
५. नैनागिर	११०९ १०५७	पार्श्वनाथ	—	—	गोलापूर्वान्वयी पतरिया श्रेष्ठो	—	—
६. डेरा पहाड़ी	११४९ १०९२	शान्तिनाथ	—	—	—	—	—
७. कुंडलपुर	११८३ ११२७	—	—	—	सि० मनसुख	—	—
८. मदनपुर ^{१*}	१२०० ११४३	शान्तिनाथ	—	—	—	—	—
९. पपौरा	१२०२ ११४५	आदिनाथ	—	—	गोलापूर्वान्वय साहू टडा सुत	मदनवर्म देव	—
१०. पपौरा	१२०२ ११४५	आदिनाथ	—	—	गोपाल साहू गल्ले सुत अल्पकन	—	—
११. चौघरी मंदिर, छतरपुर	१२०२ ११४५	नेमिनाथ	—	—	लक्ष्मादित्य, कुलादित्य	मदनवर्म देव	—
१२. बहोरीबंद	१२०५ ११४८	शान्तिनाथ	—	आसुभद्र	गोला पूर्वान्वयी महाभोज श्रेष्ठि	गयकर्ण देव	—
१३. खजुराहो	१२१५ ११५८	संभवनाथ	—	—	साहू गृहपति	मदनवर्म देव	रामदेव
१४. अहार	१२३७ ११८०	शान्तिनाथ	—	—	जाहड़, उदय- चन्द्र श्रेष्ठि	परमद्वि देव	पापट
१५. बजरंगगढ़/ धूबीन	१२३६ ११७९	शान्तिनाथ	—	—	पाणाशाह	—	—

उपासना की कामना बताया है। भ० शान्तिनाथ के साथ भ० आदिनाथ और भ० पार्श्वनाथ की प्रतिमाएँ भी पाई गई हैं, पर संख्या की दृष्टि से ये कम ही हैं। खजुराहो की सम्भवनाथ की प्रतिमा भी एक अपवाद ही माननी चाहिये। यहाँ

मनोरञ्जक तथ्य यह है कि ८६२-११८० ई० के बीच इस क्षेत्र में, भ० महावीर की मूल प्रतिमा नहीं पाई जाती। क्या महावीर इस समय तक इस क्षेत्र के लिये सुज्ञात नहीं हुए थे—यह विषय शोचनीय है।

उपरोक्त प्राचीन प्रतिमाओं के लेखों के आधार पर निम्न निष्कर्ष और दिये जा सकते हैं :

(i) यद्यपि जैनसंघ में मूलसंघ, काष्ठासंघ, नन्दिसंघ और अन्य संघों की स्थापना बहुत पहले हो चुकी थी, पर इस क्षेत्र में बारहवीं सदी तक उनका विशेष महत्व नहीं था। यही कारण है कि प्राचीन प्रतिमाओं में ११८० तक किसी में भी संघ का उल्लेख नहीं है। संघ का नाम एवं अन्य विवरण उत्तरवर्ती काल से ही उल्लिखित मिलते हैं।

(ii) सारणी १ से यह भी प्रकट होता है कि बारहवीं सदी तक इस क्षेत्र में लेखों में प्रतिष्ठाकारक भट्टारकों के नाम नहीं हैं। देवगढ़ या बहोरोबन्द के प्रतिष्ठाकारक, सम्भवतः भट्टारक नहीं थे। इससे यह स्पष्ट होता है कि भट्टारक परम्परा इस क्षेत्र में इस समय तक प्रभाव में नहीं आई थी। विद्वानों की यह धारणा है कि भट्टारक परम्परा का प्रारम्भ मुस्लिम शासन काल में सम्भवतः तेरहवीं सदी में हुआ है। भ० प्रभाचन्द्र के प्रगुरु भ० धर्मचन्द्र का पहला नाम प्रतिष्ठित भट्टारक के रूप में आता है जिन्होंने १२७५ ई० में प्रतिष्ठायें कराई थी^{११}।

मूर्तिलेखों के आधार पर भट्टारक परम्पराओं का अनुमान

बुन्देल खण्ड क्षेत्र में स्थित अनेक स्थानों के जिन मन्दिरों की मूर्तियों पर उत्कीर्ण लेखों में भट्टारक परम्परा के सम्बन्ध में अनेक सूचनायें मिलती हैं। सर्वप्रथम हमें १२०३ (११४६ ई०) में छतरपुर में प्रतिष्ठित भ० नेमिनाथ की मूर्ति पर त्रिकाली पंडित देवकीर्ति के शिष्य प्राकृत चक्रवर्ती माणिक्यनन्दि का प्रतिष्ठाकार के रूप में उल्लेख मिलता है। इसमें भट्टारक पद अंकित नहीं है। इसी प्रकार छतरपुर में ही प्राप्त १२०९ (११५२ ई०) में प्रतिष्ठित एक मूर्ति पर सकलकीर्ति नाम का उल्लेख है, पर वहाँ भी भट्टारक पद अंकित नहीं है, लेकिन नाम से ये भट्टारक प्रतीत होते हैं। उत्तरवर्ती काल में इस नाम से अनेक भट्टारक हुए हैं जिनमें भट्टारक पद्मनन्दि के शिष्य (१३९९-१४५६ ई०) सकलकीर्ति अत्यन्त प्रतिभाशाली हुए हैं। इसके बाद भ० धर्मचन्द्र, भ० जिनचन्द्र आदि का उल्लेख पाया जाता है। अनेक मूर्तियों पर भट्टारक-परम्परा (शिष्य-प्रशिष्य) का उल्लेख मिलता है। वस्तुतः ऐसे उल्लेख अल्पमात्रा में ही मिलते हैं पर ये ही हमारे लिये सर्वाधिक उपयोगी हैं। इनसे ज्ञात होता है कि जैनाम्नाय के विभिन्न संघों (मूल, काष्ठा, देवसेन, नन्दि आदि) में भट्टारक परम्परा स्वतन्त्र रूप से विकसित हुई होगी। बुन्देल खण्ड के क्षेत्र के जिनमूर्ति लेखों से तीन प्रकार की भट्टारक परम्पराओं का पता चलता है :

- (i) मूलसंघ कुंदकुंदान्वय
- (ii) काष्ठासंघ
- (iii) देवसेन संघ

इनमें मूलसंघी भट्टारक परम्परा इस क्षेत्र में सर्वाधिक प्रभावशाली रही है। काष्ठा संघ के कुल छह भट्टारकों का नाम १३८९-१५४२ (१३३१-१४८५ ई०) के बीच पाया गया है :

- (अ) भट्टारक सहस्रकीर्ति—गुणकीर्ति—यशकीर्ति (१४१६ ई०)।
- (ब) भट्टारक गुणनदेव (१४९५ ई०), ग्वालियर।
- (स) भट्टारक विशाल कीर्ति—भट्टारक विश्वसेन (१५१९ ई०)।

यह संघ मुख्यतः अग्रोतकान्वय (अग्रवाल) या गृहपत्यन्वय (गहोई) उपजातियों से सम्बन्धित है, ऐसा प्रतीत होता है। ये जातियाँ इस क्षेत्र में कम ही हैं, अतः इनके विषय में न तो अधिक उल्लेख ही मिले हैं और न ही इन पर अभी कोई विवरण ही प्रकाशित हुआ है।

सारणी २ : मूर्तिलेखों में भट्टारक परंपरा

मूर्तिलेख संवत् विक्रमी	भट्टारक नाम या परंपरा	मूर्तिलेख संवत् विक्रमी	भट्टारक नाम या परंपरा
१२०९	सकलकीर्ति	१६९४	भ० देवकीर्ति
१२७२	भ० धर्मचंद्र शाह	१६९४	भ० ललितकीर्ति-धर्मकीर्ति-पद्मकीर्ति
१३१०	भ० नरेन्द्रकीर्ति		
१३४२	भ० देवेन्द्रकीर्ति-क्षेमकीर्ति	१६९७	भ० धर्मकीर्ति-शीलभूषण-ज्ञानभूषण-जगत्भूषण
१३४५	भ० प्रभाचंद्र		
१४२०	भ० जिनचंद्र	१७१३, १६, १८	भ० पद्मकीर्ति-सकलकीर्ति
१४८०	भ० जिनचंद्र	१७१८	भ० धर्मकीर्ति-पद्मकीर्ति-सकलकीर्ति
१५०९	भ० धर्मचंद्र—कनकसागर		
१५२१	भ० भुवनकीर्ति (१५०८-३५)	१७२५, २६	भ० सकलकीर्ति
१५३५	भ० भुवनकीर्ति	१७३५	भ० जगद्भूषण-विश्वभूषण-देवेन्द्रभूषण
१५२१	भ० सिंहकीर्ति		
१५४२	भ० पद्मचंद्र-जिनचंद्र	१७४२	भ० जगद्भूषण
१५४८	भ० जिनचंद्र	१७४४	भ० सुरेन्द्रकीर्ति
१५४७	भ० जिनेन्द्रभूषण	१७४४	भ० पद्मकीर्ति-सकलकीर्ति-सुरेन्द्रकीर्ति
१५५१	भ० त्रिभुवनकीर्ति	१७४६	भ० सुरेन्द्रकीर्ति
१५८०	भ० जिनचंद्र	१७४६	भ० जगत्कीर्ति
१५८०	भ० श्रुतचंद्र पाटनी	१७५४	धर्मकीर्ति-पद्मकीर्ति-सकलकीर्ति-सुरेन्द्रकीर्ति
१६१५	भ० पद्मचंद्र		
१६४६	भ० यशकीर्ति-ललितकीर्ति	१७५५	सकलकीर्ति-सुरेन्द्रकीर्ति
१६६४	भ० जिनेन्द्र भूषण	१७६५	सकलकीर्ति
१६६४	भ० जोवराज	१७६६	भ० जगत्कीर्ति
१६६५	भ० धर्मकीर्ति (नैनागिर)	१७७३	भ० विश्वभूषण, देवेन्द्रभूषण, सुरेन्द्रभूषण, लक्ष्मीभूषण
१६६९	भ० सकलकीर्ति		
१६७८	यशकीर्ति, ललितकीर्ति, चक्रकीर्ति, चंद्रकीर्ति	१७७९	भ० धर्मकीर्ति, पद्मकीर्ति, सकलकीर्ति, कीर्तिदेव
१६८२	भ० ललितकीर्ति	१७९३	भ० देवेन्द्रकीर्ति, क्षेमकीर्ति
१६८४	भ० धर्मकीर्ति	१७९८	सुरेन्द्रकीर्ति, जिनेन्द्रकीर्ति, देवेन्द्रकीर्ति
१६८७	भ० ललितकीर्ति-रत्नकीर्ति		
१६८७, ८९	भ० धर्मकीर्ति, शीलभूषण, ज्ञानभूषण, जगत्भूषण	१७९९	सुरेन्द्रकीर्ति शिष्य पं० भीमसेन
१६८८	भ० शीलभूषण-जगत्भूषण	१८३०	भ० जिनवर जी
१६९३	भ० सुरेन्द्रकीर्ति, जिनेन्द्रकीर्ति, देवेन्द्रकीर्ति	१८३५	भ० महेन्द्रकीर्ति
१६९४	भ० पद्मकीर्ति	१८३९	भ० जिनेन्द्रभूषण
		१८७६	भ० नरेन्द्रकीर्ति
		१८९३	भ० सुरेन्द्रकीर्ति

साड़ौरा (गुना) से प्राप्त एक मूर्तिलेख से यह प्रकट होता है कि संवत् ६१० (५५३ ई०) से ही मूल संघ और पौरपाटान्वय का उल्लेख प्रारम्भ हो गया था। फिर भी, इस क्षेत्र में उसका उल्लेख पर्याप्त उत्तरवर्ती दिखता है। वस्तुतः जैन आम्नाय में अनेक संघों की स्थापना, दक्षिण एवं उत्तर भारत में, विभिन्न समयों में हुई है। जब उस ओर के लोग इधर आये, उसके सदियों बाद इन संघों का उल्लेख यहाँ प्रारम्भ हुआ। यहीं नहीं, इन संघों का गच्छ और गण के रूप में विशिष्टीकरण भी हुआ। यह विशिष्टीकरण भी सर्वप्रथम १००७ (९५० ई०) में सिरोज में प्रतिष्ठित मूर्ति के लेख में पाया गया है। बुन्देलखंड क्षेत्र की अधिकांश मूर्तियों में मूलसंघ के सरस्वती गच्छ एवं बलात्कार गण का उल्लेख मिलता है नन्दिसंघ और काष्ठासंघ उत्तरवर्ती हैं। मूलसंघ में ही भट्टारक परम्परा, सम्भवतः सर्वप्रथम मुस्लिम शासन काल—११-१२वीं सदी में प्रचलित हुई होगी। इस परम्परा ने अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये जिनमें (i) धर्म प्रभावना (ii) प्रतिष्ठायें (iii) साहित्य-निर्माण (iv) साहित्य-संरक्षण के कार्य मुख्य हैं। इन कार्यों से ही यह परम्परा लगभग ६०० वर्ष तक चली। वि० १८९३ (१८३६ ई०) के बाद भट्टारकों के उल्लेख इस क्षेत्र में कम ही मिलते हैं। अब यह दक्षिण भारत को छोड़कर शेष भारत में समाप्तप्राय है। जिन मूर्ति लेखों में प्रतिष्ठापक भट्टारक और उनकी गुरु-शिष्य परम्परा का उल्लेख मिलता है। इन उल्लेखों से भट्टारक परम्परा के विकास का अनुमान सहज लगाया जा सकता था। पर इस परम्परा में प्रारम्भिक काल को छोड़कर बाद में अनेक स्थानों पर शिष्य-प्रशिष्यों ने अपने पृथक् पीठ स्थापित कर लिये। उनके अनेक उत्तराधिकारियों के नामों में समानता होने से प्रत्येक परम्परा का सही रूप निश्चित कर पाना कठिन हो गया है। भट्टारक परम्परा के इतिहास एवं पट्टावलियों से पता चलता है कि दिल्ली, नागौर, जयपुर, अजमेर, डूंगरपुर, बाँसवाड़ा, सूरत, खंभात, कारंजा, नागपुर, श्रवणबेलगोल, सोनागिरि, ग्वालियर, चंदेरी एवं अन्य स्थानों पर समय-समय पर भट्टारक गार्दियाँ स्थापित हुईं जिनके अपने-अपने प्रभाव क्षेत्र रहे। बुन्देलखंड क्षेत्र में प्राप्त मूर्ति लेखों से पता चलता है कि इस क्षेत्र में काष्ठासंघ की ग्वालियर गद्दी तथा मूलसंघ की अनेक गद्दियों का प्रभाव रहा है। सारणी २ में इस क्षेत्र में विभिन्न मूर्तियों पर उल्लिखित भट्टारक और उनकी परम्परा के उल्लेखों की संक्षेपित किया गया है। इस आधार पर ही आगे का समीक्षण किया गया है।

रोवा, छतरपुर, कुंडलपुर और पपौरा की अनेक मूर्तियों पर भट्टारक परंपरा का विवरण मिलता है। इन्हें यहाँ दिया जा रहा है। सबसे स्पष्ट विवरण कुंडलपुर के बड़े बाबा के मंदिर के प्रवेश द्वार पर अंकित शिलालेख में पाया जाता है^१। यह वि० सं० १७५७ (१७०० ई०) का है। इस आधार पर बुन्देलखंड क्षेत्र की निम्न भट्टारक-परंपरा मुख्यतः प्रतीत होती है :

(अ) कुंडलपुर क्षेत्र पर अंकित भ० परंपरा (ब) पपौरा की भ० परंपरा (स) रोवा की भ० परंपरा (द) छतरपुर

यशःकीर्ति			यशःकीर्ति
ललितकीर्ति (१५९१-१६४०)	ललितकीर्ति	ललितकीर्ति	ललितकीर्ति
धर्मकीर्ति (१५९१-१६३६)	रत्नकीर्ति	धर्मकीर्ति	धर्मकीर्ति
पद्म कीर्ति (सकलकीर्ति)	पद्मकीर्ति	सकलचंद्र	पद्मकीर्ति
सुरेन्द्रकीर्ति	सकलकीर्ति	पद्मकीर्ति	सकलकीर्ति
सुचंदगण एवं नमिसागर	(सुरेन्द्रकीर्ति)	सकलकीर्ति	सुरेन्द्रकीर्ति
(१७५७)	कीर्तिदेव	गुणकर	जिनेन्द्रकीर्ति
			देवेन्द्रकीर्ति
			क्षेमकीर्ति

(य) छतरपुर के मूर्तिलेखों की वैकल्पिक परंपरा में (अटेरशाखा)

(i) भ० जिनचंद, भ० सिंहकीर्ति, भ० धर्मकीर्ति, भ० शीलभूषण, भ० ज्ञानभूषण, भ० जगत्भूषण, भ० विश्व-भूषण, भ० देवेन्द्रभूषण, भ० सुरेन्द्रभूषण, भ० लक्ष्मीभूषण।

अन्य परम्परायें भी हैं, पर विरल हैं। ये परम्परायें मूलसंघी हैं और भ० पद्मनन्दि (१३००-९४ ई०) के शिष्य प्रशिष्यों ने प्रारम्भ की हैं। मूलसंघ कुन्दकुन्दान्वय की जेरहट (मालवा) शाखा इनके साक्षात् शिष्य भ० देवेन्द्रकीर्ति ने भ० सकलकीर्ति के प्रभाव की नियन्त्रित करने के लिये सूरत से प्रारम्भ की थी। इसकी अनेक उपशाखायें हुईं। इसमें भ० त्रिभुवनकीर्ति, सहस्रकीर्ति, पद्मनन्दि, यशःकीर्ति, ललितकीर्ति (रत्नकीर्ति), धर्मकीर्ति, पद्मकीर्ति एवं अन्य भट्टारक समाहित हैं। बुन्देलखण्ड क्षेत्र में पाये जाने वाले अधिकांश मूर्तिलेखों में यही परम्परा पाई जाती है। दूसरी मूलसंघी नई शाखा भ० पद्मनन्दि के प्रशिष्य भ० जिनचन्द्र के शिष्य सिंहकीर्ति ने प्रारम्भ की थी। इसे अटेर शाखा कहा जाता है। इसके कम से कम दस भट्टारकों के नाम सुज्ञात हैं। इन शाखाओं के भट्टारकों के विषय में मनोरंजक तथ्य यह है कि सम्भवतः इन शाखाओं के अधिकांश भट्टारकों के जीवन एवं क्रियावृत्त के विषय में अभी तक सही जानकारी नहीं है। जो भी जानकारी उपलब्ध है, वह मूर्तिलेखों के आधार पर ही संग्रहीत है।

इन मूर्तिलेखों से प्रथम तो यह बात स्पष्ट होती है कि भट्टारक-प्रतिष्ठित मूर्तियाँ तेरहवीं सदी के प्रारम्भ से प्रमुखता से मिलती हैं। इनमें भ० धर्मचन्द्र (१२१५ ई०), प्रभाचन्द्र (१२३३-१३५१), पद्मनन्दि (१४०८) का समय एवं कार्य अधिकांश में ज्ञात है। इनके बाद पद्मनन्दि के शिष्य-प्रशिष्यों ने अनेक स्थानों पर पृथक्-पृथक् शाखायें या गादियाँ स्थापित कीं। राजस्थानी गादियों का तो कुछ इतिहास मिलता भी है, पर अन्य स्थानों की गादियों का इतिहास प्रायः अस्पष्ट है। जैन संस्कृति के विकास, संरक्षण एवं प्रभावकत्व हेतु भट्टारकों के योगदान को जानने के लिए इसका महत्व स्पष्ट है। इस दिशा में प्रयत्न आवश्यक है। उदाहरणार्थ, बुन्देलखण्ड क्षेत्र के जिनमूर्ति लेखों में जेरहट और अटेर शाखा के महत्वपूर्ण भट्टारकों के विषय में जोहरापुर, शास्त्री एवं काशलीवाल द्वारा प्रदत्त जानकारी नितान्त अपूर्ण है। अटेर शाखा के संस्थापक भ० सिंहकीर्ति के गुरु भ० जिनचन्द्र (१४८०-१५८०) का पथस विवरण उपलब्ध है। इनके माध्यम से सेठ जीवराज पापड़ीवाल द्वारा प्रतिष्ठापित प्रतिमायें प्रायः प्रत्येक जैन मन्दिर में पाई जाती हैं। पर इनके विषय में जानकारी का अभाव है। पर इस शाखा के भट्टारकों की परम्परा छतरपुर की मूर्तियों में मिलती है। यहाँ १७१६ ई० में प्रतिष्ठित यन्त्र पर भ० लक्ष्मीभूषण की अटेर-परम्परा के नाम दिये हुए हैं। इसके बाद इस परम्परा का उल्लेख नहीं मिलता। इसीप्रकार भ० जिनचन्द्रभूषण के द्वारा १७८२ ई० में महत्वपूर्ण प्रतिष्ठा कराई गई थी। इनका विवरण भी अनुपलब्ध है।

जेरहट शाखा का सम्बन्ध भ० पद्मनन्दि के शिष्य भ० देवेन्द्रकीर्ति से है। ये भ० सकलकीर्ति के समकालीन थे, पर इनका पूर्ण विवरण उपलब्ध नहीं होता। इनके शिष्य भ० त्रिभुवनकीर्ति के द्वारा प्रतिष्ठित एक मूर्ति १४९४ की इस क्षेत्र में पाई गई है। इनके प्रशिष्य भ० पद्मनन्दि के द्वारा १५४२ ई० में प्रतिष्ठित एक मूर्ति भी यहाँ पाई गई है। इन भ० पद्मनन्दि के विषय में भी जानकारी अपूर्ण है। इनके शिष्य भ० यशःकीर्ति १५९१ ई० के पूर्व रहे होंगे, ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि इस समय से भ० ललितकीर्ति द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियाँ मिलने लगती हैं। ये १५९१-१६४० ई० तक अत्यन्त विश्रुत भट्टारक रहे हैं, पर इनके विषय में कोई विवरण नहीं मिलता। शास्त्री^{१२} ने अनेक प्रकरणों के विषयसि में, यह भी नहीं बताया कि ललितकीर्ति नामक अनेक भट्टारक भी थे। वस्तुतः सकलकीर्ति के समान ललितकीर्ति नाम के अनेक भट्टारक हुए हैं। इनमें एक भ० प्रभाचन्द्र के प्रशिष्य एवं भ० धर्मचन्द्र के शिष्य हैं जो १५१४-७५ ई० के बीच रहे हैं और इनका प्रमुख कार्यक्षेत्र राजस्थान रहा है। एक अन्य ललितकीर्ति काष्ठासंघ की दिल्ली गादी में हुए हैं। इनका भी विवरण नगण्य ही उद्धृत है। जेरहट गादी के भट्टारक ललितकीर्ति तीसरे ही हैं। कुंडलपुर, पपौरा, छतरपुर आदि में इनकी परम्परा का उल्लेख है। मूर्ति-प्रतिष्ठा के समय के आधार पर इस परम्परा के भट्टारकों का समय अनुमानित किया जा सकता है। भ० ललितकीर्ति के दो प्रमुख शिष्य थे, धर्मकीर्ति और रत्नकीर्ति। इन दोनों ने ही मूर्तियों की प्रतिष्ठा कराई है। पपौरा क्षेत्र पर रत्नकीर्ति और धर्मकीर्ति दोनों के द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियाँ हैं। कुंडलपुर, रोवा एवं छतरपुर की मूर्तियाँ धर्मकीर्ति परम्परा में हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ललितकीर्ति के पट्टशिष्य धर्मकीर्ति ही रहे होंगे।

भ० रत्नकीर्ति अल्पज्ञात होंगे। भ० धर्मकीर्ति का कार्यकाल अल्प ही रहा होगा, ऐसा प्रतीत होता है। उन्होंने ललित-कीर्ति के समय में ही सम्भवतः मण्डलाचार्य के रूप में स्वतन्त्र प्रतिष्ठायें कराई होंगी। इनके द्वारा प्रतिष्ठित एक मूर्ति नैनागिर में १६०९ ई० की है। कुछ मूर्तियाँ १६२७ ई० की भी मिलती हैं। इनके शिष्य भ० पद्मकीर्ति थे। इनके द्वारा १६३७ में प्रतिष्ठित एक मूर्ति छतरपुर के मन्दिरों में पाई गई है। इनका कार्यकाल भी अल्प ही रहा होगा। इनका विवरण भी उपलब्ध नहीं होता। इनके शिष्य भ० सकलकीर्ति (१६५६-१६७०) के द्वारा प्रतिष्ठित अनेक मूर्तियाँ इस क्षेत्र में पाई जाती हैं, पर इनका जीवनवृत्त उपलब्ध नहीं होता। इनके शिष्य भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति रहे हैं जिनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियाँ १६८७-१७१० ई० के बीच पाई जाती हैं। इससे अनुमान लगता है कि भ० सकलकीर्ति १६८५ ई० तक रहे होंगे। भ० सुरेन्द्रकीर्ति के शिष्यों में जिनेन्द्रकीर्ति प्रमुख थे। इनके शिष्य भ० देवेन्द्रकीर्ति हुए। इनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियाँ सन् १७४१-६१ की प्राप्त होती हैं। इनके शिष्य क्षेमकीर्ति हुए। उन्होंने भी सम-सामयिक प्रतिष्ठायें कराई हैं। इनके काफी दीर्घकाल बाद भ० सुरेन्द्रकीर्ति का नाम आता है जिनके द्वारा सन् १८३६ की एक प्रतिष्ठित प्रतिमा पाई गई है। इसके बाद भट्टारक-परम्परा का मूर्तिलेखों में उल्लेख अल्प ही मिलता है।

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि बुन्देल खण्ड क्षेत्र में प्रभावी अटेर और जेरहट की भट्टारक परम्परा के विषय में सन्तोषपूर्ण जानकारी का अभाव है। इसके लिये प्रयत्न किया जाना चाहिये। इस क्षेत्र के सभी जैन केन्द्रों (तोर्थों एवं संस्थाओं आदि) को अपनी आय के कुछ प्रतिशत को ऐसे ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक कार्य में सत्प्रयुक्त करना चाहिये।

मूर्तिलेखों से अन्य जानकारीयाँ

उपरोक्त जानकारी के अतिरिक्त मूर्तिलेखों से राजवंश, मूर्तिकार एवं लेखकार, प्रतिष्ठाकारक गृहस्थों के परिवारों की नामावली एवं जैन उपजातियों के विवरणों का भी ज्ञान होता है। इस आधार पर सिद्धान्तशास्त्री जैनों की परवार-उपजाति के इतिहास को लेखबद्ध कर रहे हैं। इन जानकारियों की समीक्षा अगले निबन्ध में की जायेगी। •

सन्दर्भ

१. डा० कस्तूरचन्द्र काशलीवाल (प्र० सं०); पं० बाबूलाल जमादार अभि० ग्रन्थ; शास्त्री परिषद्, बडौत, १९८१ पेज ३५३-४००।
२. कमलकुमार शास्त्री; पपौरा दर्शन, पपौरा क्षेत्र, टोकमगढ़, १९७६।
३. कमलकुमार जैन; जिनमूर्ति प्रशस्ति लेख, दि० जैन बड़ा मन्दिर, छतरपुर, १९८२।
४. कैलाश भड़वैया; बानपुर, दि० जैन अतिथय क्षेत्र, बानपुर (ललितपुर), १९७८।
५. नीरज जैन; कुंडलपुर, सुषमा प्रकाशन, सतना, १९६४।
६. —; बहोरोबन्द वैभव, दि० जैन अतिथय क्षेत्र, बहोरोबन्द, जबलपुर, १९८४।
७. —; पं० फूलचन्द्र शास्त्री अभि० ग्रन्थ, काशी, १९८५।
८. सन्दर्भ ३ पेज २८ देखिये।
९. वही, पेज १३।
१०. विमलकुमार सौरया, देखिये सन्दर्भ १ पेज ३९२।
११. काशलीवाल, के० सी० और जोहरापुरकर विद्याधर; वीर शासन के प्रभावक आचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९७५ पेज १२१।
१२. नेमचन्द्र शास्त्री; तोर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, दि० जैन विद्वत् परिषद्, सागर, १९७४ पेज ४१२।